

प्रश्न : हमारा मन केवल ज्ञात को जानता है। हमारे भीतर वह क्या है, जो हमें अज्ञात, यथार्थ की, ईश्वर की खोज में प्रवृत्त करता है?

कृष्णमूर्ति : क्या आपका मन अज्ञात की ओर प्रेरित होता है? क्या हमारे भीतर अज्ञात को, यथार्थ को, ईश्वर को पाने के लिए कोई अभिप्रेरणा मौजूद है? इस पर गहराई से सोचिए। यह कोई वाक्पटुता भरा प्रश्न नहीं है, पर आइए, इस बात का वस्तुतः पता लगाते हैं। क्या हममें से हरएक के अंदर अज्ञात को पा लेने की कोई अंदरूनी प्रेरणा है? सचमुच है? आप अज्ञात को पा कैसे सकते हैं? यदि आप अज्ञात को जानते नहीं हैं, तो कैसे उसे पा सकेंगे? क्या यह प्रेरणा अज्ञात के लिए है, या वह ज्ञात के लिए चाह का ही विस्तार है? आप मेरे कहने का मतलब समझ रहे हैं? मैंने बहुत सारी चीजों को जाना है, वे सब मुझे खुशी, संतुष्टि और आनंद नहीं दे पाई हैं। तो मैं अब कुछ और चाह रहा हूँ, जो मुझे और अधिक आनंद, और ज़्यादा खुशी, और अधिक जीवन-शक्ति या और कुछ दे। तो क्या ज्ञात, जो मेरा मन है--क्योंकि मन ज्ञात ही है, वह अतीत का ही परिणाम है--क्या वह मन अज्ञात को खोज सकता है? यदि मैं यथार्थ को, उस अज्ञात को, जानता ही नहीं हूँ, तो उसे खोज कैसे सकता हूँ? निश्चित ही, उसी को आना होगा, मैं तो इसकी खोज में जा नहीं सकता हूँ, और यदि मैं इसकी खोज में जाता हूँ, तो मैं ऐसी किसी वस्तु की खोज में जा रहा होता हूँ, जो ज्ञात है, जिसका प्रक्षेपण मैंने ही किया है।

हमारी समस्या यह नहीं है कि हममें वह क्या है, जो हमें अज्ञात को पाने के लिए प्रेरित करता है--वह बात तो पर्याप्त स्पष्ट है। यह अधिक सुरक्षित, अधिक स्थायी, अधिक प्रतिष्ठित, अधिक प्रसन्न होने की तथा बेचैनी से, पीड़ा और उलझन से पलायन करने की हमारी अपनी ही कामना है। स्पष्टतः इसीसे हम प्रवृत्त होते हैं। जब ऐसी प्रवृत्ति, ऐसी प्रेरणा होती है तो आपको एक शानदार पलायन मिल जाता है, अद्भुत शरण मिल जाती है--बुद्ध में, ईसा में या राजनीतिक नारेबाजी या उस तरह की बातों में। वह यथार्थ नहीं है; वह अज्ञेय, वह अज्ञात नहीं है। इसलिए अज्ञात को उपलब्ध कर लेने की प्रवृत्ति का अंत हो जाना, अज्ञात की खोज का रुक जाना आवश्यक है, जिसका अभिप्राय है कि आवश्यकता संचयी, इकट्ठा होते रहने वाले ज्ञात को समझने की है, जो कि यह मन है। मन का स्वयं को ज्ञात के तौर पर जानना ज़रूरी है, क्योंकि वह बस इतना ही जानता है। आप किसी ऐसी चीज़ के बारे में नहीं सोच सकते जिसे आप जानते नहीं हों। आप सोच केवल उसी बारे में सकते हैं, जो आप जानते हैं।

कठिनाई हमारी यह है कि मन ज्ञात में अग्रसर न हो; और ऐसा तभी हो सकता है जब मन स्वयं को समझे, और यह भी समझे कि कैसे इसकी सारी हलचल अतीत से, वर्तमान के द्वारा स्वयं का प्रक्षेपण करते हुए, भविष्य की ओर होती है। यह ज्ञात की ही एक अनवरत गतिविधि है; क्या यह गतिविधि थम सकती है? यह केवल तभी थम सकती है, जब इसकी अपनी प्रक्रिया की प्रणाली को, इसके काम करने के ढंग को समझ लिया जाए, केवल तभी, जब मन अपने आपको, अपने क्रियाकलाप को, अपने तौर-तरीकों को, अपने प्रयोजनों को, अपनी दौड़ों को, मांगों को समझ ले--न केवल सतही मांगों को, बल्कि गहरी अंदरूनी प्रेरणाओं और उद्देश्यों को भी। यह काफी श्रमसाध्य कार्य है। यह कुछ ऐसा नहीं है जो किसी सभा में, किसी व्याख्यान में या कोई किताब पढ़कर आपको पता चल जाए। इसके लिए तो निरंतर निरीक्षण, विचार की प्रत्येक गतिविधि के प्रति लगातार जागरूकता ज़रूरी है--न केवल तब, जब आप जागे हुए हों, बल्कि तब भी जब आप सो रहे हों। यह प्रक्रिया समग्र होनी चाहिए, आंशिक या कभी-कभी वाली प्रक्रिया नहीं।

फिर मंशा भी सही होनी चाहिए। अर्थात् यह अंधविश्वास समाप्त हो जाना चाहिए कि आंतरिक रूप से हम सब अज्ञात के अभिलाषी हैं। यह सोचना एक भ्रम है कि हम सब ईश्वर को खोज रहे हैं--हम ऐसा कुछ

नहीं कर रहे हैं। उजाला हमें खोजना नहीं पड़ता। जब अंधेरा नहीं होगा, तो उजाला होगा ही, और अंधेरे के ज़रिये आप उजाले को नहीं ला सकते। जो हम कर सकते हैं, वह इतना ही है कि हम उन रुकावटों को हटा दें, जो अंधेरा निर्मित करती हैं, उनका हटना इस बात पर निर्भर है कि हमारी मंशा क्या है। यदि आप उजाला देख पाने के लिए इन रुकावटों को हटा रहे हैं, तो आप कुछ हटा नहीं रहे हैं, आप केवल अंधेरे के लिए उजाला शब्द इस्तेमाल कर रहे हैं। अंधेरे के पार देखना भी अंधेरे से पलायन ही है।

वह क्या है जो हमें प्रेरित कर रहा है, इसकी बजाय हमें गौर इस बात पर करना है कि हममें इस कदर उलझन, ऐसी उथल-पुथल, इतनी कलह, वैमनस्य--ये सारी मूढ़ताएं क्यों हमारे जीवन में हैं। जब ये मूढ़ताएं नहीं होती हैं, तो उजाला होता है, हमें उसे ढूंढना नहीं पड़ता। जब मूढ़ता विदा हो जाती है तो प्रज्ञा विद्यमान होती है। पर वह आदमी जो मूर्ख है और बुद्धिमान बनने की कोशिश कर रहा है, तब भी मूर्ख ही रहता है। बेवकूफी समझदारी में नहीं बदली जा सकती, बेवकूफी जब नहीं रहती तो समझदारी होती है, प्रज्ञा होती है। स्पष्ट है कि मूढ़ व्यक्ति जब प्रज्ञावान, बुद्धिमान बन जाने का प्रयास करता है, तो वह ऐसा कभी नहीं कर पाता। मूढ़ता क्या है, यह जानने के लिए व्यक्ति को इसकी सतही तौर पर नहीं अपितु पूरी तरह से, समग्रता से, गंभीरता और गहनता से जांच-पड़ताल करनी होती है, उसे मूढ़ता की विभिन्न परतों को देखना-समझना होता है, और जब मूढ़ता समाप्त हो जाती है, तो बुद्धिमत्ता है।

जो हमारे भीतर अस्त-व्यस्तता, युद्ध, वर्ग-भेद, दंभ, प्रसिद्धि की दौड़, जानकारी का संग्रह, संगीत, कला तथा अन्य विविध प्रकारों से पलायन--इन तमाम प्रवृत्तियों को निर्मित कर रहा है, वह क्या है, इसे मालूम करना महत्त्वपूर्ण है, न कि यह जानना कि क्या ज्ञात से श्रेष्ठतर कुछ और है, जो हमें अज्ञात की ओर प्रवृत्त कर रहा है। निश्चय ही, यह महत्त्वपूर्ण है कि हम इन सारी प्रवृत्तियों को उसी रूप में देखें, जैसी कि वे हैं, और ठीक जैसे हम हैं, वैसे ही स्वयं की ओर वापस आएँ। वहाँ से हम आगे बढ़ सकते हैं। जब मन किसी अन्य तत्त्व की चाह में भविष्य में किए जा रहे अपने प्रक्षेपण को रोक देता है; जब मन वस्तुतः चुप, गहन शांति में होता है, तो अज्ञात अस्तित्व में आता है। आपको इसे खोजना नहीं पड़ता। आप इसे आमंत्रित नहीं कर सकते हैं। जिसे आप आमंत्रण दे सकते हैं, वह तो आपको ज्ञात ही होता है। आप एक अज्ञात अतिथि को आमंत्रण नहीं दे सकते। जिसे आप जानते हों, उसी को आमंत्रित कर सकते हैं। अज्ञात को, ईश्वर को, यथार्थ को, या जो भी आप इसे पुकारते हों, इसको हम नहीं जानते हैं। इसे ही आना होता है। यह तभी आ सकता है, जब खेत सही हालत में हो, धरती जोती गई हो, पर आपने यदि जोताई इस वजह से की है कि यह आ जाए, तो यह आप तक कभी नहीं आएगा।

हमारी समस्या ज्ञानातीत को खोजना नहीं, मन की संचयी प्रक्रियाओं को समझना है; मन जो कि हमेशा ज्ञात ही होता है। यह काम बहुत मेहनत का है, जो निरंतर अवधान की, एक ऐसी सतत सजगता की मांग करता है, जिसमें विचलन-भीति का, तादात्म्य का, निंदा का कोई भाव नहीं है; यह 'जो है', उसके साथ होना है। केवल तभी मन निश्चल हो पाता है। ध्यान व अनुशासन का कितना भी आधिक्य मन को सही मायने में निश्चल नहीं बना सकता। हवाएं थम जाने पर ही झील स्थिर होती है। आप झील को स्थिर बना नहीं सकते। हमारा कार्य उस अज्ञेय की खोज में प्रवृत्त होना नहीं है। हमारा कार्य तो अपने भीतर के इस विभ्रम को, अशांति को, इस दुर्दशा को समझ लेना है; और तब अनजाने ही, चुपचाप, एक आविर्भाव होता है, जो आनंदमय है।